जूलाई १९८८ हिंदी पत्रिका में प्रकाशित

बुद्ध और धर्म

(४)

जब कोई व्यक्ति बुद्ध होता है, जीवनमुक्त होता है, परम परिशुद्ध होता है तो धर्म ही सिखाता है, बौद्ध धर्म नहीं। बौद्ध धर्म तो केवल बौद्धों का ही होगा न? ठीक वैसे ही कि जैसे हिन्दू धर्म केवल हिन्दुओं का है, जैन धर्म केवल जैनियों का, मुस्लिम धर्म मुस्लमानों का, ईसाई धर्म ईसाइयों का, सिक्ख धर्म सिक्खों का, पारसी धर्म पारसियों का, यहूदी धर्म यहूदियों का इत्यादि। ऐसे ही बौद्ध धर्म केवल बौद्धों का ही है।

परन्तु बुद्ध की शिक्षा तो सब के लिए होती है केवल बौद्धों के लिए नहीं। वह मनुष्य मनुष्य में भेदभाव नहीं करती। बुद्ध की शिक्षा मानव समाज को जाति-पांति के, ऊंच-नीच के विभाजनों में विभाजित नहीं करती। जहाँ जाति-पांति का भेदभाव हो तो वह उसे तोड़ती है। बुद्ध की शिक्षा मनुष्य को अलग २ संप्रदायों के बाड़े में नहीं बांधती। वह तो विभिन्न संप्रदायों के बाड़ो में बंधे हुए और गड़रियों जैसे नेताओं द्वारा भेड़-बकरियों की तरह हाँके जाते हुए लोगों को इन बंधनों से मुक्त करती है। आदमी को स्वतंत्र-स्वाधीन बनाती है। हर एक को अपने पांव पर खड़ा होना सिखाती है। पराधीनता तोड़ती है। वह किसी एक संप्रदाय समाज तक सीमित नहीं रह सकती।

कोई बुद्ध होता है तो धर्म सिखाता है जिसे "अप्पमाणो धम्मो" याने अमित असीम धर्म कहा जाता है। उसके साथ "बौद्ध" विशेषण लगाना उस "अप्पमाणो" को "पमाणो" बना देना है। असीम को ससीम बना देना है। धर्म को संप्रदाय में बदल देना है। ऐसा करेंगे तो धर्म का अवमूल्यन हो जायेगा। अपरिमित धर्म को अपनी नैसर्गिक ऊंचाइयों से उतारकर उसे बौना बना देंगे। इसलिए किसी भी बुद्ध की शिक्षा को धर्म ही कहना समीचीन है बौद्ध धर्म नहीं।

क्योंकि बुद्ध की शिक्षा तो अप्पमाणो है, असीम है, अपरिमित है। बुद्ध की शिक्षा है;-

१- "सब्ब पापस्स अकरणं" सभी पापों को न करें। याने ऐसे काम न करें जो औरों को भी हानि पहुँचाए और अपना मन भी मैला करे और अपना अकुशल करे।

२- "कुसलस्स उपसम्पदा" कुशल कर्मों को संपादित करें, उसका संचय-संग्रह करें। याने ऐसे काम करें जो औरों का भी भला करे और अपना भी कुशल करे।

३- "सचित्तपरियोदपनं" अपने चित्त को धोते रहें, शुद्ध करते रहें। याने राग, द्वेष और मोह तथा तज्जनित सभी विकारों को दूर करते रहें।

इन तीनों शिक्षाओं में संप्रदाय की सीमा कहाँ से आयी भला? मनुष्य मनुष्य के विभाजन की सीमा कहाँसे आयी? यह तीनों की तीनों सार्वजनीन शिक्षाएँ हैं। अकुशल कर्मों से सभी को बचना चाहिए। केवल किसी एक संप्रदाय या जाति के व्यक्तियों को ही नहीं। इसी प्रकार कुशल कर्म सभी को करना चाहिए। चित्त के मैल भी सभी को धोने चाहिए। शील, समाधि और प्रज्ञा का यह तीनों शिक्षाएँ सभी के लिए हैं। इसी माने में अप्पमाणो हैं, अपरिमित हैं, असीम हैं। किसी संप्रदाय या जाति के बाड़े में बंधी हुई नहीं हैं।

और यही तीन तो बुद्ध की शिक्षाएँ हैं, बुद्ध का शासन है।

"एतं बुद्धान सासनं" और ये किसी एक बुद्ध की शिक्षा नहीं। किन्हीं दो की नहीं, सौ की नहीं; सभी बुद्धों की शिक्षा है। सभी बुद्धों का यही शासन है। केवल गौतम तक सीमित नहीं। जो बोधि प्राप्त करले वही बुद्ध। कोई बुद्ध हो, यही सार्वजनीन शिक्षा देता है। लोगों को यही सार्वजनीन धर्म सिखाता है। उसकी शिक्षा किसी संप्रदाय तक सीमित नहीं रहती। किसी नर, नारी, जाति, गोत्र आदि के समूह तक सीमित नहीं रहती। इसी माने में सदा सार्वजनीन होती है।

वह किसी गांव, नगर, प्रदेश, देश अथवा किसी भूखण्ड तक सीमित नहीं रहेगी। इसी माने में सार्वदेशिक है, सार्वभौमिक है।

वह कभी पुरानी नहीं पड़ती, बासी नहीं हो जाती। सदा शाश्वत बनी रहती है।

"सतं च धम्मो न जरं उपेति" – भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों कालों में तरोताजा बनी रहती है। सब समय धारण करनेवालों को एक जैसा सुफल देती है। इस माने में सार्वकालिक होती है।.... "एस धम्मो सनन्तनो।"

किसी बुद्ध का धर्म देश, काल या व्यक्ति की सीमा में आबद्ध नहीं होता। इसी माने में "धम्म" अप्पमाणो होता है।

साधकों! कोई बुद्ध होता है तो सार्वजनीन धर्म ही सिखाता है। वह कोई संप्रदाय स्थापित नहीं करता। यदि कोई संप्रदाय स्थापित करता है तो समझ लेना चाहिए कि वह व्यक्ति बुद्ध नहीं, शुद्ध नहीं, मुक्त नहीं है। अभी उसमें कुछ कमी है। अभी स्वयं भी ससीम है, असीम नहीं हुआ।

बुद्ध तो स्वयं असीम होता है। "अप्पमाणो बुद्धो"... किसी जाति, वर्ण अथवा देश-प्रदेश की सीमा में बंधता नहीं। वह सबका होता है।

किसी "अप्पमाणो बुद्ध" की शिक्षा याने "अप्पमाणो धम्मो" का पालन करनेवाला व्यक्ति शील, समाधि और प्रज्ञा के मार्ग पर चलते चलते अपने चित्त को शुद्ध करता है और इसी जीवन में सभी ससीम लोकों के परे असीम इंद्रियातीत परम निर्वाणिक सत्य का साक्षात्कार कर लेता है। ऐसे किसी एक व्यक्ति को भी संघ कहते हैं। ऐसे व्यक्तियों के समूह को भी संघ कहते हैं। यह सभी निर्वाणदर्शी अर्हंत "अप्पमाणो" होते हैं। इसलिए संघ भी "अप्पमाणो"। ऐसे निर्मल चित्त संत को कोई जाति, वर्ण, गोत्र या संप्रदाय का बाड़ा कैसे बांध सकता है? जैसे भिन्न भिन्न नदी-नाले गंगा में गिरकर गंगा ही बन जाते हैं। जैसे गंगा, गोदावरी, कावेरी आदि भिन्न भिन्न नदियाँ समुद्र में गिरकर समुद्र ही बन जाती हैं। जैसे गुलाब, चमेली, कदंब, कमल आदि भिन्न भिन्न फूलों से इकट्ठा किया हुआ पराग एक रस मधु ही बन जाता है, वैसे ही अप्पमाणो धर्म में समाहित व्यक्ति अपने जाति, वर्ण, गोत्र, संप्रदाय सब खो देता है। और स्वयं अप्पमाणो हो जाता है। धम्म भी अप्पमाणो, धम्म सिखानेवाला बुद्ध भी अप्पमाणो और धर्म के रास्ते चलकर मुक्त हुआ संत, अर्हंत संघ भी अप्पमाणो। ये तानों अप्पमाणो हैं, असीम हैं, अपरिमित हैं। इन्हें न कोई देशकाल की सीमा, न कोई जाति, वर्ण, गोत्र व संप्रदाय की सीमा बांध सकती है।

साधकों! हमारा सद्भाग्य है कि शुद्ध, सार्वजनीन धर्म एक बार फिर जागा है। एक बार फिर पूरब से सूरज उदय हुआ है। सब को प्रकाश देनेवाला, सब को जीवन देनेवाला, सब के मन का अंधियार दूर करनेवाला धरम का सूरज। सांप्रदायिक बेड़ियों को भंग करनेवाला, जाति-पांति की दीवारों को तोड़नेवाला, कर्मकांडके कटघरों से लोगों को बाहर निकालनेवाला, काल्पनिक दार्शनिक मान्यताओं के जंजालों से छुटकारा दिलानेवाला महामंगलमय धर्म। सार्वजनीन, सार्वदेशिक, सार्वकालिक सनातन धर्म।

आओ! इसका स्वागत करें! इसे धारण करें! शुद्ध धर्म के शासन में अनुशाशित हों! अपना कल्याण मंगल साध लें!

कल्याण मित्र,

स.ना.गो.

धम्मगिरि पर पावस ऋतु

पावस की रमण्य ऋतु आयी। धम्मगिरि का पर्वत-प्रदेश प्रकृति की भुवन-मोहिनी मनोरमा से महिमामंडित हो उठा। ग्रीष्म के उत्ताप से उत्तप्त शैल-शिलाएं पिघल-पिघलकर बहने लगीं। सह्याद्रि पर्वत द्रवीभूत हो उठा। शिखर शृंगों से अनेकानेक झरने फूट पड़े। वर्षा के जल से शुष्क धरती सराबोर हो उठी। नीची भूमि ताल-तलैयों से भर उठी। ऊंची मुलायम मखमली घास से तरु-तृणों की हरीतिमा पुष्प पल्लवों की रंगीनियां पार्वती पृथ्वी के साज-शृंगार करने की होड़ में लग गईं। अकिंचन आकाश शून्यता के दारिद्र्य से उन्मुक्त हुआ। दिशाओं के ओर-छोर तक नीरभरे नीरद, परजन्य ही परजन्य भर गए। मेघ-मालाओं की संपद् संपन्नता से श्री-समृद्धि से गगनमंडल की गरिमा गौरवान्वित हो उठी। कहीं रिक्तता नहीं, क्षुद्रता नहीं, सूनापन नहीं, उदासी नहीं, मायूसी नहीं। धरती और आकाश पर सर्वत्र वैभव विलास, उल्लास-उमंग और वर्षामंगल का उत्सव ही उत्सव।

उन्मुक्त अठखेखियां करती हुई प्रकृति का आमोद-प्रमोद असीम हो उठा। पल-पल परिवर्तित। अभी कोमल, अभी कठोर। अभी सूक्ष्म, अभी स्थूल। समीपवर्ती खेतों में उगी हुई घास में मनोमुग्धकारी लहरियां पैदा करता हुआ और खुशियों की किलकारियां भरता हुआ पवन देखते-देखते अट्टाहास करते हुए प्रबल प्रभंजन का रूप धारण कर लेता है और उत्तर की ओर स्थिर सुमेरु पर्वत पर से गिरने वाले जल-प्रपातों की जल-राशि से कुंदक-क्रीड़ा करने लगता है। उसे आकाश की ओर उछालता है। वर्षा की श्रुति-मधुर रिम-झिम किसी दिव्य अप्सरा के नर्तन-थिरकन से निःसृत नूपुर पायलों की सी रुनन-झुनन पैदा करती है। और यकायक इसी मधुर झंकार के बीच दक्षिणी क्षितिज से एक भीम-भैरव गड़गड़ाहट आती है और सारे अंतरिक्ष को प्रकंपित करती हुई उत्तर के सुमेरु पर्वत को पार कर जाती है। पृथ्वीतल पर दादुर मंडली का समवेत सुर-आलाप चलता है और इसी बीच अचानक दिल-दहला देने वाली कर्णभेदी बिजली कड़क उठती है। दिन दोपहर में भी सारे वातावरण पर निविड़ निशा की सी तमिश्रा चादर तनी रहती है और क्षण भर में समग्र धरती आकाश विद्युत की चमक दमक से चौंधिया उठता है। यूं प्रकृति क्षण-क्षण अपना वेश बदलती रहती है। इस गिरिप्रदेश की विस्तृत रंगभूमि पर नियति-नटी, नई-नई नृत्य मुद्राएं, नई-नई भाव-भंगिमाएं प्रकट करती रहती है। नई-नई वेशभूषा, नई-नई साज-सज्जा, नई-नई सीन सिनेरियां, नए-नए वाद्य-वृन्द प्रकट करती रहती है। पावस के वैभव में धम्मगिरि के पर्वत प्रदेश का संपूर्ण परिवेश प्रतिपल प्राणवंत बना रहता है।

और ऐसे में शांति पठार का धर्म चैत्य मानो बांह पसार कर साधकों का आह्वान करता हुआ कहता है- "आओ, ऐ दुनियावी दुख-दर्द से प्रपीड़ित मानवो! आओ! मेरी शांतिदायिनी गोद में आओ! मेरे अंक में समाओ! मेरे भीतर गिरि-गुफाओं सदृश इन नवनिर्मित शून्यागारों में शरण लो। पाल्थी मार कर, कमर सीधी करके बैठो। प्रकृति का जो प्रपंच बाहर देखा है अब उसे भीतर देखो। अन्तर्मुखी होकर यथाभूत दर्शन करो! प्रत्यक्षानुभूति द्वारा अनित्य बोध जगाओ! विपश्यना करो! विपश्यना करो! विपश्यना करो! और अपना मंगल साधो!

सचमुच पावस ऋतु और पर्वतप्रदेश ध्यान के लिए अत्यंत उपयुक्त है। ऐसे में ध्यान का आनंद स्वभावतः अपरिमित हो उठता है। बुद्धकालीन विपश्यी साधकों के हृदयोद्गार पावस ऋतु में पर्वत पर ध्यान करने की प्रबल प्रेरणा प्रदान करते हैं। ऐसा एक साधक अपना अनुभव प्रकट करता हुआ कहता है-

"यदा नभे गज्जति मेघदुन्दुभि,
धाराकुला विहगपथे समन्ततो।
भिक्खू च पब्भारगतो व झायति,
ततो रतिं परमतरं न विन्दति॥"

जब गगन में मेघदुन्दुभि बज रही हो, समग्र विहगपथीय आकाश जलधारा ही जलधारा से भर उठा हो, ऐसे समय जब कोई साधक गिरि-गह्वर में ध्यान करता है तो चित्त-एकाग्रता से प्राप्त उस परम आनंद से बढ़कर और कोई आनंद नहीं होता।

पर्वतीय पावस साधक को सदा प्रिय लगता है। क्योंकि ऐसे मनोरम वातावरण में मन खूब ध्यानस्थ होता है। एक साधक अपने अनुभव के उद्गार प्रकट करता हुआ कहता है।-

"अभिवुट्ठा रम्मतला, नगा इसिभि सेविता।
अब्भुन्नदिता सिखी हि, ते सेला रमयन्ति मे॥"

मयूरों के कूजन से अभिगुंजित, ध्यानी ऋषियों द्वारा सेवित, वर्षाजल से सिंचित रमणीय पर्वत-प्रदेश मुझे अत्यंत प्रिय है।

सचमुच पावस की ऋतु और पावन पर्वतीय तपोभूमि एकांत ध्यान के लिए अत्यंत अनुकूल होती है। तभी तो साधक का मन ऐसी सुविधा के लिए लालायित हो उठता है। पूर्वकाल के एक ध्यानी की ललक है-

"कदा नु मं पावुस काल मेघो,
नवेन तोयेन सचीवरं बने।
इसिप्पयातम्हि पथे वजन्तं,
ओवस्सते तं नु कदा भविस्सति॥"

ऋषियों के चले हुए आर्यमार्ग का अनुसरण करते हुए (विपश्यना ध्यान करते हुए) मेरे वस्त्र वर्षा के नवल जल से कब भीगेंगे? मेरी यह मंगल अभिलाषा कब पूरी होगी?

बरसती वर्षा के समय गड़गड़ाते बादलों के तले ध्यानगुहा में एकाकी विहार करते हुए साधक को कितना संतोष अनुभव होता है-

"देवो च वस्सति, देवो च गलगलायति।
एकाको चाहं भेरवे बिले विहरामि॥"

पर्जन्यदेव बरसता है, पर्जन्यदेव गड़गड़ाता है और मैं एकाकी भैरवगुहा में विहार करता हूं। ऐसे समय साधक अपने चित्त को उत्साहित करता है कि,

हे चित्त तुम-

पब्भारकुट्टे पकते व सुन्दरे।
नवम्बुना पावुससित्थकानने,
तहिं गुहागेहगतो रमिस्ससि॥"

प्राकृतिक सौंदर्य से भरपूर पर्वत प्रदेश में पावस ऋतु के नवल जल से सिंचित वन में, किसी गिरि गुहा को घर बनाकर रमोगे और

"भिगो यथा सेरि सुचित्तकानने,
रम्मं गिरि पावुसअब्भमालिनिं।
अनाकुले तत्थ नगे रमिस्सं,
असंसयं चित्त परा भविस्ससि॥"

जिस प्रकार सुंदर कानन में उन्मुक्त मृग विचरण करता है उसी प्रकार पावस ऋतु की मेघमालाओं से रमणीय पर्वत पर आकर तुम व्याकुलता मुक्त होकर रमण करोगे और ऐ मेरे चित्त! निःसंदेह तुम भव-पार हो जाओगे।

भव पार होने के लिए ही तो एकांतीय पर्वतवास है। क्योंकि वर्षा ऋतु में सम्यक रूपेन ध्यान करने पर-

"यथा अब्भानि वेरम्भो, वातो नुदति पावुसे।
सञ्ञा मे अभिकिरन्ति, विवेक पटिसञ्ञुता॥"

जिस प्रकार पावस ऋतु में झंझावात मेघों को उड़ा ले जाते हैं, उसी प्रकार मेरे चित्त से भाव-संज्ञा दूर होती है और मन निष्कामता से भर उठता है।

यह पावस के ध्यान की ही महिमा है कि-

"धरणी च सिञ्चति वाति, मालुता विज्जुता चरति नभे।
उपसमन्ति वितक्का, चित्तं सुसमाहितं ममा॥"

वर्षा धरती को सींच रही है, हवा बह रही है, आसमान में बिजली चमक रही है, ऐसे में ध्यान करते हुए मेरा मन वितर्क-विहीन हो गया है। मेरा चित्त सुसमाहित हो गया है।

परम आनंद की उपलब्धि होती है ऐसी ध्यान भावना में। तभी तो किसी विदर्शी विपश्यी ने हर्षोद्गार प्रकट करते हुए कहा-

"यदा निसीथे रहितम्हि कानने,
देवे गलन्तम्हि नदिन्त दाठिनो।
भिक्खू च पब्भारगतो ब झायति,
ततो रतिं परमतरं न विन्दति॥"

जब वर्षा के बादल गड़गड़ाते हों- जैसे हाथी चिघाड़ते हों, तब कोई साधक पर्वत गुफा में ध्यान भावना करता है तो उसे जिस परमानंद का अनुभव होता है उससे बढ़कर और कोई आनंद नहीं होता।

सचमुच "सब्बरतिं धम्मरतिं जिनाति" सारे आनंदों से बढ़कर धर्म का आनंद है।

इसी आनंद के लिए ही तो वर्षाकाल और एकांत गुहा के ध्यान का महत्त्व है। इसी के लिए विपश्यी साधक धर्म कामना करता है-

"कदा नुहं पब्बतकन्दरासु,
एकाकियो अद्दुतियो विहस्सं,
अनिच्चतो सब्बभवं विपस्सं,
तं मे इदं तं नु कदा भविस्सति॥"

मैं पर्वतगुहा में, बिना किसी दूसरे के, कब अकेला विहार करूंगा? कब सारे संसार के प्रति अनित्यबोधिनी विपश्यना करूंगा? मेरी यह धर्म अभिलाषा कब पूरी होगी?

अनित्य बोधिनी विपश्यना के लिए ही शांतिपठार के धर्म चैत्य का धर्म आह्वान है-

"आओ, जो बाहर है उसे ही भीतर देखो। यथाभूत देखो, यथास्वभाव देखो! "अनिच्चावत सङ्खारा।" अनिच्च, अनिच्च, अनिच्च! अनित्य है, अनित्य है, अनित्य है। जो बनता है वह बदलता ही है!"

बाहर आकाश में बादल उमड़ते-घुमड़ते हैं। उपवन में पवन आन्दोलित होता है। वृक्ष झूमते हैं। टहनियां झूलती हैं। पत्ते फरफराते हैं। दूर्वादल लहलहाते हैं। सर्वत्र अस्थिरता ही अस्थिरता नजर आती है। इसी प्रकार भीतर भी सर्वत्र अस्थिरता ही अस्थिरता, आन्दोलन ही आन्दोलन, हलन-चलन ही हलन-चलन महसूस होती है। बाहर उत्तर की ओर के सुमेरु पर्वत की खड़ी चट्टानी दीवार से झर-झर झरने झरते हैं। इसी प्रकार भीतर भी अनित्य बोधिनी चैतन्य गंगा सिर से पांव तक झरझराती रहती है। बाहर सारी धरती पर बूंदा-बूंदी हो रही है। भीतर भी इसी प्रकार स्पन्दनो की बूंदा-बूंदी चल रही है। बाहर के ताल-तलैयों पर वर्षाजल के बुदबुदे बनते हैं और तरन्त नष्ट हो जाते हैं। भीतर भी इसी प्रकार बदबुदे उत्पन्न होते हैं और प्रतिक्षण नष्ट होते हैं। बाहर बहती हुई जलधाराओं में नन्ही-नन्ही उर्मियाँ लहराती चलती हैं। भीतर भी इसी प्रकार लहरियां ही लहरियां, उर्मियाँ ही उर्मियाँ, उत्पाद-व्यय ही उत्पाद-व्यय, उदय-व्यय ही उदय-व्यय। "यतो-यतो सम्मसति खन्धानं उदयब्बयं।" बाहर घनीभूत बादल छा जाते हैं, भीतर भी भावावेश का घना कुहरा छा जाता है। बाहर देखते-देखते बादलों की सघनता विदीर्ण होती है। हवा उन्हें तितर-बितर कर देती है। इसी प्रकार भीतर भी अनित्य बोधिनी प्रज्ञा का पवन भावावेश की घनसंज्ञा विदीर्ण करता है। बाहर बादल हटते ही शून्य आकाश की वास्तविकता प्रकट होती है। भीतर भी इसी प्रकार संस्कारों के बादल फटते ही माया दूर होती है और यथार्थ का शून्याकाश प्रकट होता है। बाहर का आकाश बादलों से मुक्त हो जाता है। वैसे ही भीतर का चित्ताकाश आश्रवों से मुक्त हो जाता है, धुलकर नितांत विरज-विमल हो जाता है।

यूं बाहर से भीतर की ओर प्रवेश करते हुए विपश्यी साधक को प्रभूत प्रेरणा मिलती है। जब उसका चित्त विपश्यना से पूरी तरह सुभावित हो जाता है, वह देखता है कि उसके चित्त में राग नहीं बैठ सकता। ठीक वैसे ही जैसे कि ठीक से छाई हुई छत में वर्षा का जल प्रवेश नहीं पा सकता।

"यथागारं सुच्छन्नं वुट्ठी न समतिविज्झति।
एवं सुभावितं चित्तं रागो न समतिविज्झति॥"

और ऐसी सुस्वस्थ चित्त अवस्था में विपश्यी साधक उन्मुक्त होकर गा उठता है-

"छन्ना में कुटिका सुका निवाता, वस्स देव यथासुखं।
चित्तं में सुसमाहितं विमुत्तं, आतापी विहरामि वस्स देवा।"

मेरी कुटी छायी है, सुखदायी है, हवा-पानी से सुरक्षित है, परजन्य देव! अब तुम चाहो तो जी भर बरसो।

मेरा चित्त सुसमाहित है, राग से विमुक्त है, मैं तापस जीवन जीता हूं! बरसो! बरसो! हे परजन्य देव! अब तुम चाहो तो जी भर बरसो!!

धन्य है पावस ऋतु! धन्य है पर्वत प्रदेश! धन्य है परिवर्तनशील प्रकृति! धन्य है धम्मगिरि! धन्य है शांतिपठार! धन्य है धर्म-चैत्य और धर्मचैत्य की ध्यान गुफाएं! धन्य है विपश्यना साधना जिसे साधकर धन्य हो उठते हैं विपश्यी साधक!!

कल्याण मित्र
स. ना. गो.